

तालीम की लड़ाई

उच्च शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के विविध रूप

शिवानी नाग

शिक्षा हर हाल में राज्य की ज़िम्मेदारी का विषय है। सामाजिक स्तरीकरण और आर्थिक विषमताओं के चलते यह मसला आज़ादी के बाद से और भी जटिल होता चला गया है। प्रस्तुत आलेख में शिवानी नाग ने शिक्षा सम्बन्धी सरकारी नीतियों, बजट प्रावधानों और आरक्षण सम्बन्धी कायदों के हवाले से सरकार की नीयत पर सवाल उठाया है। शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करता यह आलेख शिक्षा और ज्ञान के निर्माण में सामाजिक हैसियत के वर्चस्व पर चिंता प्रकट करता है। सं.

एकलव्य से लेकर ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, फ़ातिमा शेख और बाबासाहेब आम्बेडकर तक, शिक्षा को मुक्ति और बराबरी हासिल करने का हथियार तब भी समझा जाता था और आज भी समझा जाता है। बाबासाहेब आम्बेडकर के अनुसार, शिक्षा मानसिक और संज्ञानात्मक विकास का एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा सामाजिक गुलामी को मिटाया जा सकता है और आर्थिक एवं राजनीतिक मुक्ति को और बढ़ाया जा सकता है। उनका मानना था कि 'डिप्रेस्ड क्लासेज़' और ग़रीबों में अशिक्षा उनकी अपनी ग़लती नहीं थी (जैसा कि अकसर हमें यकीन दिलाने की कोशिश की जाती है), बल्कि सरकारें जानबूझकर शिक्षा के लाभों को कुछ खास वर्गों के लिए सीमित कर, आम जनता को उसके लाभ से वंचित रख रही थीं (आम्बेडकर, 1928-29 में बॉम्बे विधायी समिति को सम्बोधित करते हुए और बॉम्बे प्रेसीडेंसी के शिक्षा बोर्ड की रिपोर्ट-1850 से उद्धरण करते हुए)।¹ गुलामगिरी में ज्योतिराव फुले ने भी कई उदाहरण देकर समझाया है कि शूद्रों की अशिक्षा, समाज में सवर्णों के आर्थिक और सामाजिक विशेषाधिकार बनाए रखने के लिए उस वर्ग द्वारा इच्छापूर्ण

और सुनियोजित तरीक़े से सुनिश्चित की गई थी। और उनका मानना था कि इस गुलामी से मुक्त होने में और एक समतामूलक एवं न्याय आधारित समाज की संरचना में शिक्षा की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पर एक ओर जहाँ उत्पीड़ितों और हाशिए पर मज़बूर किए गए तबकों ने शिक्षा की उस भूमिका को समझा है जिससे एक बेहतर और बराबर समाज और सम्मान की ज़िन्दगी की ओर बढ़ा जा सके। वहीं दूसरी ओर हर समय में उस समय के द्रोणाचार्य भी हुए हैं जिनका लक्ष्य शिक्षा को पहले से विशेषाधिकृत अर्थात् 'प्रिविलेज्ड' तबके तक ही सीमित रखने का रहा है। भले ही इसके लिए उन्हें एकलव्यों के अंगूठे ही क्यों न काटते रहना पड़ें। आज भी उत्पीड़ितों को शिक्षा से दूर रखने की साज़िशें बरकरार हैं।

जून 2018 में प्रधानमंत्री के पूर्व सलाहकार सुरजीत भल्ला ने इण्डियन एक्सप्रेस में एक लेख लिखा, *लेट द एलीट पे* (समाज का अभिजात वर्ग शिक्षा के लिए भुगतान करे)। सुनने में शायद यह ख़ूब अच्छा लग सकता है पर इस तर्क में कई दिक्कतें हैं। इस लेख के दो मुख्य तर्क

1. Ambedkar on 'Franchise' in Rodrigues (2002)– *The Essential Writings of B.R. Ambedkar*.

थे— पहला यह कि जिनके पास पैसा है वे पैसे देकर शिक्षा प्राप्त करें और दूसरा यह कि आरक्षण की नीति, गैर-योग्यता को बढ़ावा देती है। हालाँकि उन्होंने भारत के सरकारी स्कूलों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अभाव पर भी खेद जताया जो गरीब वर्ग के बच्चों को प्राप्त होती है, परन्तु वह न तो इस बात से चिन्तित लगे कि क्यों स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता को लेकर इतनी असमानता हो, और न ही उन्होंने इस तथ्य का प्रयोग समान शिक्षा प्रणाली की वकालत करने के लिए किया। इसके ठीक विपरीत उन्होंने इस तर्क का प्रयोग किया एक ऐसी ही गैर बराबर और श्रेणीबद्ध उच्च शिक्षा के पक्ष को रखने के लिए। इस लेख में सलाहकार भल्ला सरकारी उच्च शिक्षा के दायरे और उसमें निवेश को सीमित करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे।

आज जब हम आए दिन सरकारी स्कूलों के बन्द किए जाने की खबरें सुनते हैं, उच्च शिक्षा में फण्ड में कटौती होते देखते हैं, शोध के प्रोग्राम में सीटों और बजट की कटौती होते देखते हैं, आरक्षण की नीति का उल्लंघन होते पाते हैं तो उत्पीड़ितों और गरीबों को शिक्षा से बहिष्कृत रखने का एजेण्डा एकदम सामने क्रियान्वित होते दिखता है। शिक्षा से उत्पीड़ित वर्ग का बहिष्करण सिर्फ शैक्षिक प्रक्रिया से बहिष्करण नहीं है, परन्तु यह बहिष्करण इस बात को भी सुनिश्चित करता है कि जिसे हम ज्ञान समझते हैं, उसकी रचना कौन करेगा, हमारे अकादमिक सिद्धान्तों में किसके प्रश्न और किसके अनुभव निहित होंगे, इतिहास कौन लिखेगा और सामाजिक एवं राजनीतिक शास्त्र के दृष्टिकोण किसकी अवस्थिति से निर्धारित होंगे! शिक्षा की प्रक्रिया से बाहर होना, ज्ञान के सृजन की प्रक्रिया से भी बाहर होना है।

आज जब हम आए दिन सरकारी स्कूलों के बन्द किए जाने की खबरें सुनते हैं, उच्च शिक्षा में फण्ड में कटौती होते देखते हैं, शोध के प्रोग्राम में सीटों और बजट की कटौती होते देखते हैं, आरक्षण की नीति का उल्लंघन होते पाते हैं तो उत्पीड़ितों और गरीबों को शिक्षा से बहिष्कृत रखने का एजेण्डा एकदम सामने क्रियान्वित होते दिखता है।

इस लेख में, शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण अर्थात् 'एक्सक्लूज़न' के एजेण्डे पर कुछ रोशनी डालने का प्रयास रहेगा

बहिष्करण के पुनरुत्थान को समझने के लिए सुरजीत भल्ला के लेख का एक अंश मददगार हो सकता है। वे लिखते हैं, "हाल के वर्षों में, आईआईटी जैसे प्रमुख संस्थानों में अगर सामान्य (जनरल) श्रेणी के छात्र के लिए औसत प्रवेश स्कोर 'x' है, तो आरक्षित श्रेणी के छात्रों का औसत प्रवेश स्कोर 'x' का आधा होगा। ऐसे बाज़ार की कठोरता देखते हुए औसत से कम स्कोर वाले छात्र बाहर निकलकर क्या करेंगे?" यहाँ पर गौर करने योग्य है कि सुरजीत भल्ला प्रवेश परीक्षा में सामान्य वर्ग से आए छात्रों के मार्क्स में महँगे कोचिंग संस्थानों की भूमिका पर ज़रा भी बात नहीं करते, और ना ही ऐसी प्रवेश प्रक्रियाओं की जहाँ विभिन्न जातीय वर्गों के मार्क्स में ज़्यादा फ़र्क नहीं। उदाहरण के लिए, 2018 में दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंट स्टीफंस कॉलेज की प्रवेश सूची में सामान्य वर्ग के छात्रों के 'कट-ऑफ' मार्क्स एवं अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के

छात्रों के 'कट-ऑफ' मार्क्स में ज़्यादा फ़र्क नहीं था। खैर, सुरजीत भल्ला के इस तर्क की सत्यता पर आते हैं। जब सुरजीत भल्ला प्रवेश परीक्षा के स्कोर से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि औसत से कम स्कोर लाने वाले छात्र तीव्र प्रतिस्पर्धा से निर्देशित बाज़ार में कुछ नहीं कर पाएँगे, तब वह यह भूल जाते हैं कि उच्च शिक्षा संस्थान में प्रवेश पाने और पढ़ाई पूरी कर नौकरी के लिए तैयार हो जाने के बीच में संस्थान भी छात्रों के विकास में अपना योगदान देता है। छात्र किसी भी वर्ग से आए हों, प्रवेश पाने के बाद संस्थान से डिग्री पाने के इम्तिहानों में मापदण्ड सबके

लिए एक बराबर हैं। आरक्षण से प्रवेश पाने वाले छात्रों को इंजीनियर या डॉक्टर की डिग्री तब ही मिलती है, जब वह उस पेशेवर डिग्री के लिए बनाए गए मापदण्डों पर खरा उतरते हैं।

ऐसे तर्क सुनने पर यह भी पूछना जरूरी है कि आखिर शिक्षा संस्थानों के लक्ष्यों के बारे में हमारी समझ क्या है! अगर हमें लगता है कि 4-5 साल एक उच्च शिक्षा संस्थान में गुज़ारने के बाद एक व्यक्ति बिना सीखे, बिना बदले, जैसा का तैसा निकलता है तो फिर किस बात की शिक्षा! फिर शिक्षकों, शैक्षणिक बुनियादी ढाँचों और संस्थानों की जरूरत ही क्या है! मैं स्वयं एक विश्वविद्यालय में पढ़ाती हूँ और मेरे लिए इससे ज़्यादा नकारात्मक कल्पना कुछ हो ही नहीं सकती कि शिक्षा किसी को कुछ नहीं सिखाती। अगर शिक्षा इंसान और समाज को बदलने एवं विकसित करने की काबिलियत ही नहीं रखती, तो फिर शिक्षा की जरूरत ही नहीं। हाँ, पर अगर हम शिक्षा में व्यक्तिगत और सामाजिक बदलाव एवं विकास की उम्मीद देखते हैं, तो सुरजीत भल्ला का तर्क अस्वीकार्य है।

मैं स्वयं एक विश्वविद्यालय में पढ़ाती हूँ और मेरे लिए इससे ज़्यादा नकारात्मक कल्पना कुछ हो ही नहीं सकती कि शिक्षा किसी को कुछ नहीं सिखाती। अगर शिक्षा इंसान और समाज को बदलने एवं विकसित करने की काबिलियत ही नहीं रखती, तो फिर शिक्षा की जरूरत ही नहीं। हाँ, पर अगर हम शिक्षा में व्यक्तिगत और सामाजिक बदलाव एवं विकास की उम्मीद देखते हैं, तो सुरजीत भल्ला का तर्क अस्वीकार्य है।

शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के एक और पहलू को समझना भी जरूरी है।

कहीं उच्च शिक्षा संस्थान शोषित और पिछड़े तबकों से आए विद्यार्थियों की जरूरतों को नज़रअन्दाज़ कर उन्हें और प्रताड़ित तो नहीं कर रहे हैं! कहीं शिक्षा संस्थान विद्यार्थियों को शैक्षणिक समर्थन देने के बजाय उनसे शिक्षा से जुड़े कौशल जैसे— अकादमिक भाषा, अकादमिक लेखन, जटिल सैद्धान्तिक लेखों को समझने का तरीका, प्रस्तुति कौशल अर्थात् 'प्रेजेंटेशन स्किल्स' आदि के पहले से होने की उम्मीद तो नहीं रखते! कई विश्वविद्यालयों में

हम पाते हैं कि प्राध्यापक केवल ऐसे शोधार्थियों का शोध सुपरवाइज़ करना चाहते हैं जो पहले से अच्छी अंग्रेज़ी लिख सकें, जिनके पास एक खास सामाजिक-सांस्कृतिक पूँजी हो और जिन पर उन्हें ज़्यादा समय न लगाना पड़े। ऐसे शोधार्थी जिनके पास रचनात्मक और समृद्ध विचार हैं पर भाषा की पूँजी नहीं, उनके साथ कम ही प्राध्यापक काम करना चाहते हैं। इसका असर, जैसा कि पहले भी कहा गया, ज्ञान की संरचना पर भी है। अगर हाशिए पर धकेले गए वर्गों और समाज से आए शोधार्थियों के लिए शोध कर पाने को सुगम बनाने की जगह कठिन बना दिया जाएगा तो ज़ाहिर-सी बात है, उनके प्रश्न और जीवन के अनुभव शोध का विषय नहीं बन पाएँगे और निर्मित हो रहे ज्ञान से उनका अलगाव बना रहेगा। यह शिक्षा के लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया पर गहरा प्रहार है।

पिछड़े और शोषित तबकों से आने वाले विद्यार्थियों के साथ संस्थागत तरह से किए जाने वाले बहिष्करण कई प्रकार के हैं। पहली कोशिश तो यह होती है कि वे उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश ही न कर पाएँ। इसके भी कई तरीके

हैं— आरक्षण की नीति की ग़लत व्याख्या करके, आरक्षित वर्गों के छात्रों को प्रवेश प्रक्रिया के दौरान लिए जाने वाले साक्षात्कार में कम अंक देकर, या सीटों को इतना कम करके कि उनमें आरक्षण दे पाना ही असम्भव हो जाए। और अगर इन सबसे लड़ते हुए शोषित वर्ग से आए विद्यार्थी फिर भी प्रवेश पा लें, तो कई संस्थान यह स्वीकार करने से मना कर देते हैं कि एक ग़ैर-बराबर और श्रेणीबद्ध स्कूली शिक्षा प्रणाली ने और उनकी अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की जटिलताओं ने उन्हें शायद उस तैयारी के साथ नहीं भेजा जितना कि 'प्रिविलेज्ड' वर्ग

से आए छात्रों को। शैक्षणिक संस्थान ऐसे में कई बार एक सक्रिय संस्थागत समर्थन, जैसे—अधिक ट्यूटोरियल, कम शिक्षक-छात्र अनुपात वाली कक्षाएँ, अनुवाद इकाई, भाषा समर्थन केन्द्र, इत्यादि मुहैया कराने की अपनी जिम्मेदारी से भी मुँह मोड़ लेते हैं।

भाषा के मुद्दे पर थोड़े विस्तार से चर्चा करने की ज़रूरत है। इस देश में हमने भाषा में विविधताओं को बस स्कूल के निबन्धों में गुणगान की जाने वाली घटना तक सीमित कर दिया है। शिक्षा में सैद्धान्तिक मूल्यों की नींव रखने में और किसी भी व्यक्ति के संज्ञानात्मक विकास में भाषा की भूमिका को अकसर नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। भाषा के क्षेत्र में हुए तमाम शोध इस बात का प्रमाण देते हैं कि भाषा और सोचने की प्रक्रिया में एक गहरा सम्बन्ध है। सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार, भाषा केवल एक पारस्परिक संचार का माध्यम नहीं है। भाषा एक सांस्कृतिक साधन भी है जो हमारे उच्च या जटिल मानसिक कार्यों में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है (कोल और एंगेस्ट्रोम, 1993)। व्यक्ति भाषा का उपयोग न केवल दूसरे से बात करने के लिए करता है, बल्कि वह अधिकतर सोचता भी किसी भाषा में ही है। दुनिया के ज्यादातर ऐसे देशों में जहाँ अच्छे अनुसंधान हो रहे हैं, लोग अपनी मातृभाषा में ही शोध करते हैं। यह जानते हुए कि अधिकतर

सरकारी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है और प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, जब तक उच्च शिक्षा संस्थानों में हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली अलग-अलग भाषाओं को शामिल नहीं किया जाएगा, तब तक जाहिर है कि बहिष्करण की प्रक्रिया का शिकार इस तबक्रे के विद्यार्थी होते रहेंगे।

यह भी ध्यान देने वाली बात है कि शोध प्रोग्राम में हो रही सीटों और बजट की कटौती का सीधा-सीधा असर आरक्षण पर पड़ता है। हाल ही के वर्षों में इन सीटों और बजट की कटौती की वजह से कुछ विभागों में इनटेक अर्थात प्रवेश संख्या एकल अंकों में है, जिस कारण अगर उनमें आरक्षण लागू भी करें, तो गणना के अनुसार आरक्षित सीटों की संख्या शून्य दशमलव कुछ पॉइंट होगी— अर्थात सिफ़र! शिक्षा के अधिकार और ज्ञान के निर्माण की प्रक्रिया, इन दोनों से पिछड़े तबक़ों को वंचित रखने की कोशिशों का विरोध ज़रूरी है।

आज जब एक ज़बरदस्त कोशिश है शिक्षा को मुक्ति और बराबरी का हथियार नहीं बनने देने की और जातीय एवं वर्ग विशेषाधिकार बनाए रखने की, तो इस बहिष्करण की रणनीति के खिलाफ़ संघर्ष तो ज़रूरी हो ही जाता है। और इस संघर्ष में जीत और भी ज्यादा ज़रूरी हो जाती है!

सन्दर्भ

फुले, ज्योतिराव गोविन्दराव (2017), *गुलामगिरी* (हिंदी अनुवाद; अनुवादक – विमलकीर्ति), नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन.

Cole, M & Engeström, Y (1993), 'A cultural-historical approach to distributed cognition', in G Salomon, *Distributed cognitions: Psychological and educational consideration* (pp. 1-46), Cambridge: Cambridge University Press.

Bhalla, Surjeet (23 June 2018), 'Let the Elite Pay', *The Indian Express*, Retrieved from <https://indianexpress.com/article/opinion/columns/higher-education-in-india-admission-hrd-let-the-elite-pay-5229469/>

Rodrigues, V (Ed) (2002), *Franchise, The Essential Writings of B.R. Ambedkar*, New Delhi: Oxford University Press, pp. 65-74.

शिवानी नाग पिछले एक दशक से शिक्षा और सामाजिक मसलों पर लेखन एवं अध्यापन कर्म से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान में अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली के स्कूल ऑफ़ एजुकेशन स्टडीज़ में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं। सम्पर्क : shivani@aud.ac.in